धर्म और महिलाएं

अहमदाबाद की एक साधवी अर्चना ने बीस साल बाद सन्यास तोड़कर वैवाहिक जीवन की ओर कदम बढ़ाया है। टी.वी पर इस खबर ने फिर से कई सवाल और बवाल खड़े कर दिए हैं। कारण–एक बार सन्यास ग्रहण करने के बाद सांसारिक जीवन की ओर आकृष्ट होना धार्मिक पतन का वाचक है। किसी व्यक्ति का धार्मिक पतन उस धर्म के मतावलंबियों के लिए चिंता का विषय बन जाता है। वह इसलिए किसी भी धर्म से व्यक्ति की आस्था का डिगना उस धर्म की अंदरूनी कमजोरियों की ओर संकेत करता है। दूसरा बड़ा कारण अगर यह धार्मिक विमुखता किसी स्त्री द्वारा दिखाई जाए तो वह हिमाकत से ज़्यादा कुछ नहीं माना जाता, जैसा कि साक्षात्कार में उक्त धर्मावलंबी व्यक्तियों द्वारा अपनी बातों में जाहिर किया जा रहा था।
लेकिन जरा एक व्यक्ति की तरह सोचिए कि बचपन में नासमझ बच्ची को जबरदस्ती या बहला फुसलाकर साधवी बना देना कितना बड़ा अपराध है। सोचने की बात यह भी है कि ज़्यादातर लड़कियां ही क्यों साधवी बनाई जाती है? कहीं इसलिए तो नहीं कि धर्म को समर्पित करने के बाद माता–पिता उनकी परवरिश शैक्षिक और अन्य सांसारिक ज़िम्मेदारियों से मुक्त हो जाते हैं। एक बार धर्म की शरण में दिया और बात खत्म। एक और बात– ज़्यादातर लड़कियां ही कम उम्र में साधवी, देवकन्या या दवदासी बनाई जाती रही हैं–इन देवकन्याओं, देवदासियों और साधवियों के शोषण का इतिहास गवाह है। और सबसे बड़ी बात यह कि ऐसे धार्मिक प्रावधानों और कर्मकांडों के लिए कोई कानूनी बाध्यता या बंदिश नहीं होती। अब अगर उम्र के पड़ाव पर वह अपनी मनपसंद को स्वीकार कर सांसारिक बंधनों को स्वीकार करती है तो यह तो धर्म का उल्लंघन हुआ ही, समाज और धर्मावलंबी न भड़कें तो कैसे!
पर सोचिए कि एक स्त्री के लिए क्या ज़रूरी होना चाहिए–क्या उसे आज़ादी से अपना जीवन जीने और निर्णय लेने का अधिकार नहीं होना चाहिए? क्या धर्म किसी व्यक्ति के मानवीय अधिकारों से बढ़कर हो सकता है? क्या जबरदस्ती का धर्मानुकरण आस्था का केंद्र हो सकता है? क्या कड़े धार्मिक कायदे कानून व्यक्ति की सांसारिक इच्छाओं से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं? क्या सहज मानवीय भावनाओं और प्रेम से बढ़कर कोई धर्म हो सकता है? आखिर धर्म किसके लिए है–व्यक्ति धर्म के लिए है या धर्म व्यक्ति के लिए? अगर व्यक्ति धर्म के लिए है तो वह कैसा धर्म है? और अगर धर्म व्यक्ति के लिए है तो फिर उसे ग्रहण करने और न करने की सहज स्वीकृति तो उसे होनी ही चाहिए न!

क्या समाज में आदमी और औरत के लिए धर्म की परिभाषाएं अलग अलग हैं? एक आम औरत के रूप में मैंने कई बार अपने आप से यह सवाल किया है–मेरा धर्म क्या है? 'धार्यते इति धर्मः' कहकर धर्म की स्वैच्छिक ग्राह्यता को सर्वोपरि संस्कारित करने वाले हमारे धर्म पुराणों में आखिर धर्म के किस रूप को महत्व दिया गया होगा? यानि जिसे व्यक्ति स्वेच्छा से धारण करता है वही धर्म है। स्वेच्छा से व्यक्ति में धारण किए जाने वाले संस्कार ही धर्म का रूप हैं। धर्म का जो रूप बाहर दुनिया में नज़र आता है–'उसे मैं क्या कहूं! मंदिरों में घंटे बजाती और मस्जिदों में अजान पढ़ती आस्था से परेशान हाल मरीजों और ट्रैफ़िक जाम के शिकार आम लोगों के बीच सुनाई देती दुर्भावनाओं में मुझे भक्त और भगवान, बन्दे और खुदा दोनों की धज्जियां उड़ती दिखाई देती हैं? क्या एक का धर्म दूसरे के लिए सचमुच इतना कष्टकर होता है? और क्या वह इतना कष्टकर होना चाहिए?

आप लाख तर्क दें मगर इस बात को मन किसी तरह स्वीकार नहीं कर पाता जो ईश्वर की सीखों से अनभिज्ञ धार्मिक भेड़चाल में शामिल होते हैं। धर्म की दिखावट को गलियाते आम लोगों में कबीर नज़र आते हैं। 'क्या बहरा हुआ खुदाय।'। 'ढाई आखर प्रेम का पढ़ै जो पंडित होय' क्या यह हैरानी की बात नहीं है कि सारे धर्म प्रेम और मानवता का पाठ पढ़ाते हैं और धर्मानुकरण के इतने कठिन और अन्यायपूर्ण मानदंड भी गढ़ते हैं जहां व्यक्ति की निजी इच्छा का कोई मूल्य नहीं है–औरतों की इच्छा का तो कतई नहीं–क्या ऐसे धार्मिक नियम अनुकरणीय होने चाहिए?

यों धर्म को भुनाने में हम सभी किसी न किसी हद से जुड़े हैं। धर्म का पूरा का पूरा व्यापार व्यक्ति की आस्था से ज़्यादा भय से जुड़ा है। हम किसी भी अज्ञात शक्ति के प्रति समर्पण में अपना संतोष ढंढते हैं और सच कहूं तो येन केन प्रकारेण यह धर्म हर व्यक्ति को डरना सिखाता है। सुबह शाम की पूजा में मेरा मन भी किसी अज्ञात सत्ता के प्रति समर्पण में अपने तमाम निहित सांसारिक स्वार्थों की संतृप्ति चाहता है। तो धर्म आस्था का प्रश्न है जो जैसे माने, ठीक।

मगर धर्म किसी दूसरे के लिए बंदिश और विरोध का पर्याय तो कतई नहीं हो सकता। अगर ऐसा है तो हम धार्मिक नहीं होते–धर्मांध होते हैं, जिन्हें वक्त की ज़रूरतों के मुताबिक अपने धार्मिक मानदंडों की कमज़ोरियां नज़र नहीं आतीं और ख़ुद को श्रेष्ठ साबित करने की जुगत में दूसरे को हीन ठहराना उनके लिए अवश्यम्भावी हो जाता है। इसी को हम धर्मान्धता, धार्मिक उन्माद, सांप्रदायिकता जैसे अनेक शब्दों से जानते हैं। अब यह बात बेकार है कि कौन धर्म ज़्यादा धर्मांध है और कौन कम अपनी उतरें तो सभी धर्म के राक्षस बनने से कब चूकते हैं। अगर मैं झूठ हूं तो इतिहास की तारीखें तो झूठ नहीं हो सकतीं।

फिर धर्म की बात जब औरतों के बारे में आती हैं तो उसके मायने एकदम से बदले हुए होते हैं। इसी धर्म को जब औरतों की नज़र से देखने की कोशिश करते हैं तो बहुत से सवाल ज़हन में जागते हैं। सारे देवता पुरुष रूप में ही क्यों हुए? देवियों की शक्तियां भी देवताओं की कृपा से किसी महिती उद्देश्य की पूर्ति के लिए गढ़ी गईं। स्वतः स्फूर्त किसी देवी के जन्म की गाथा हमें धर्म–पुराणों में सुनाई नहीं देती। कोई भी धर्म उठा लीजिए–स्त्री महान है, देवी है क्योंकि वह किसी देव पुरुष की जन्मदात्री, सहचरी, या कि किसी महत्त उद्देश्य के लिए शक्ति प्रदत्त सत्ता है। खैर हो सकता है कि यह मेरे ही दिमाग की उपज हो। मगर यह सत्य मैं कैसे भुला दूं कि संपूर्ण शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक समर्पण में वे अपनी इंसानी पहचान को भुलाकर सती सावित्री, देवी कहलाने की मरीचिका के पीछे ताउम्र भागती रहती हैं। फिर, जब औरतों के हक़ हकूकों की बात आती है तो कोई भी धर्म और कोई भी संस्कृति अपने पांव समेट लेती है। महिलाओं के अधिकारों के नाम पर जैसे सारा धर्म, मजहब और परंपराएं खतरे में पड़ जाता है।

धर्म और मजहब औरतों को दबाने और दोयम रखने के सबसे अहम् माध्यम हैं। महिलाओं के धर्म के नाम पर तमाम व्रत, पूजा, सतीत्व और पतिव्रत की शिक्षाएं दी गई हैं। हमारी पुराकथाएं स्त्रियों को सेवापरायण और सहनशील होने की शिक्षा तो देती हैं, किंतु अत्याचार के खिलाफ़ आवाज़ उठाती स्त्री के लिए वहां कोई पहचान और स्वीकृति नहीं है। और यह सत्य इस बार भी साबित हुआ है।

धर्म में स्त्री की सिर्फ़ दो ही संज्ञाएं हैं– वह या तो देवी, सती है या फिर डायन और राक्षसी। उसके दोनों रूपों में पुरुष सत्ता के समक्ष नतमस्तक होने और उस सत्ता के विरूद्ध स्वेच्छा से जीवन जीने की आज़ादी ही मूल भेद का कारण है। हर धर्म स्त्री को मां, बहन, पत्नी, बेटी बनकर जीना तो सिखाता है। किसी भी धर्म में स्त्री को एक इंसान और शख्सियत के रूप में स्वीकार करने की संभावना नज़र नहीं आती। हमें सोचना होगा कि इंसानी पहचान, हक़ और आज़ादी से हटकर धर्म

और मजहब का क्या कोई महत्व हो सकता है? जो हमें बराबरी और सम्मान की पहचान नहीं दे सकता।

जरा सोचिए हर धर्म में राक्षस और देवता हुए–जो मानवीय मूल्यों की रक्षा और संघर्ष से जुड़ी कथाओं को गढ़ते हैं। मगर व्यवहारिक जीवन में समाज के कायदे कानूनों में बंधे धर्माचरण की संज्ञाओं में डायन या सती जैसी संकल्पनाएं पुरुषों के लिए कहीं कढ़ी नहीं गईं। कहीं सुना है कि फलां पुरुष डायन, सती या चुड़ैल करार देकर हिंसा का शिकार बनाया गया हो। या कि किसी भी एक पुरुष को अपनी स्त्री या बच्चों की रक्षा के लिए व्रत–उपवास रखने की सलाह दी गई हो। वास्तव में हम खो जाने के डर से उसी व्यक्ति के लिए आतंकित रहते हैं–जिससे हमारी सुरक्षा, भरण पोषण की पूर्ति की जुड़ी होती है–खैर यह कहने की ज़रूरत नहीं कि पितृसत्ता में पुरुषों को स्त्री और बच्चों का स्वामित्व सर्वसम्मति से सौंपा गया है। स्वामी की मंगल कामना सेवक का धर्म है। यही तो दुनिया का हर धर्म सिखाता है।

स्त्रियों के पिछड़ेपन की जड़ें आज भी महिलाओं के साथ रीति–रिवाजों और संस्कृति के नाम पर होने वाले दुर्व्यवहारों में छिपी हैं। इन्हें आवाज़ दिए बिना हम स्त्री स्वाधीनता की कल्पना भी नहीं कर सकते। बाल विवाह, सती प्रथा, पारो और द्रोपदी प्रथाएं, साधवी, देवदासी, देवकन्या जैसी प्रथाएं (परिवार के सभी पुरुषों के साथ पत्नीवत् यौनिक संबंध कायम करना) आज भी हमारे समाज में किसी न किसी रूप में दिखाई दे जाती हैं। और जब कोइ महिला अपने अधिकार और इच्छा से इन धार्मिक आडंबरों के ख्लिाफ़ कदम बढ़ाती है तो ऐसे बवालों पर रोक लगाई जानी चाहिए।

आज हमें धर्म के नाम पर महिलाओं के साथ भेदभाव करने वाली उन ताकतों और रिवाजों को पहचानना और बदलना चाहिए जो स्त्रियों को एक इंसानी पहचान देने से इंकार करते हैं। आज़ादी से पहले राजा राममोहन राय, बाल गंगाधर तिलक, ज्योतिबा फुले जैसे समाज सुधारकों स्त्रियों के साथ धर्म और संस्कृति के नाम पर होने वाले दुर्व्यवहारों के खिलाफ़ आवाज़ बुलंद की थी। आज हम उन्हें याद तो करते हैं मगर उनके आदर्शों को अपने जीवन में उतारने के लिए कितने प्रतिबद्ध हैं यह सोचने की बात है।

डॉ. सुनीता ठाकुर
472 ए, गली नं–34,
ब्लॉक–डी, मोलड़बंद एक्सटेंशन,
बदरपुर, नई दिल्ली–44